Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 5.16/ March - April 2026 / VOL-02 ISSUE-V

25

ज्ञानेंद्रपति की गंगा

विकास कुमार मिश्रा
शोध छात्र, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय वल्लभ विद्यानगर, आणंद

मानव सभ्यता की कहानी जब भी लिखी जाती है, उसकी प्रथम पंक्तियाँ नदियों के तट पर ही अंकित होती हैं। नदियाँ केवल जलधाराएँ नहीं रहीं, वे जीवन की वाहक, संस्कृति की पोषक और मानव विकास की आधारशिला रही हैं। प्राचीन काल में जब मनुष्य ने स्थायी निवास का विचार किया, तब उसने अपनी बस्तियाँ उन्हीं पावन तटों पर बसाईं; जहाँ जल की निरंतरता थी, भूमि उपजाऊ थी और जीवन के विस्तार की अनंत संभावनाएँ थीं। यही कारण है कि सिंधु घाटी सभ्यता, मेसोपोटामिया सभ्यता और मिस्र की सभ्यता जैसी महान सभ्यताएँ नदियों की गोद में ही विकसित हुईं।

नदियाँ उस स्नेहमयी माता के समान थीं, जिन्होंने मानव को केवल जीवन ही नहीं दिया, बल्कि उसे संस्कार, परंपरा और संस्कृति का अमूल्य खजाना भी सौंपा। उनके तटों पर गीत गाए गए, उत्सव मनाए गए, और जीवन के हर सुख-दुःख का साक्षात्कार हुआ। उनकी निर्मल धारा में केवल जल ही नहीं बहता था, बल्कि उसमें मानव की आस्थाएँ, विश्वास और संवेदनाएँ भी प्रवाहित होती थीं। नदियाँ मानव जीवन की धड़कन थीं—शांत, गंभीर और निरंतर प्रवाहमान। किन्तु समय के साथ जब औद्योगिक क्रांति का आगमन हुआ, तब विकास की अंधी दौड़ ने इस सहज और पवित्र संबंध को आहत करना शुरू कर दिया। मशीनों की गर्जना और कारखानों के धुएँ के बीच नदियों की स्वच्छता और पवित्रता कहीं खो गई। जो नदियाँ कभी जीवनदायिनी थीं, वे धीरे-धीरे प्रदूषण की शिकार बनती चली गईं। शहरों के विस्तार ने उनके तटों को संकुचित कर दिया, और उनमें बहने वाला निर्मल जल अब गंदगी और रासायनिक अपशिष्टों से दूषित हो गया। आज स्थिति यह है कि जो नदियाँ कभी नगरों की जननी थीं, वही नदियाँ अब उन्हीं नगरों के किनारे एक पतली, थकी हुई धारा के रूप में बहने को विवश हैं। वे अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं।

“नदी के किनारे नगर बसते हैं
नगर के बसने के बाद
नगर के किनारे से
नदी बहती है।”[1]

ज्ञानेंद्रपति की रचनाओं में गंगा नदी केवल एक भौगोलिक धारा नहीं, बल्कि जीवन, समय और समाज के बहुआयामी अनुभवों की प्रतीक बनकर उभरती है। विशेष रूप से उनके दो काव्य-संग्रह गंगातट और गंगा-बीती पूर्णतः गंगा के इर्द-गिर्द रचे गए हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि गंगा उनके काव्य-चिंतन की केंद्रीय धुरी रही है। कवि का गंगा के प्रति लगाव किसी धार्मिक आस्था या पारंपरिक श्रद्धा मात्र का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक संवेदनशील कवि का प्रकृति और मनुष्य के संबंधों के प्रति गहरा आत्मीय जुड़ाव है। उनके लिए गंगा एक जीवित सत्ता है—ऐसी सत्ता जो समय के साथ बदलती है, दुःख-सुख सहती है और अपने तटों पर बसे जीवन को प्रतिबिंबित करती है। उनकी कविताओं में गंगा नदियों की प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित होती हैं। पटना में अध्ययनरत रहते हुए ही ज्ञानेंद्रपति ने गंगा के साथ एक आत्मीय संबंध स्थापित कर लिया था। परंतु जब वे वाराणसी (बनारस) में आकर बसे, तब यह संबंध और भी अधिक प्रगाढ़ और भावात्मक हो गया। बनारस की सांस्कृतिक विरासत, घाटों की जीवंतता और गंगा के साथ वहाँ के लोगों का गहरा रिश्ता उनके काव्य में नए आयाम लेकर आया।

ज्ञानेंद्रपति की दृष्टि में गंगा एक ‘बूढ़ी दुखियारी माता’ के रूप में चित्रित होती है—ऐसी माता जो अपने ही संतानों द्वारा उपेक्षित और पीड़ित है। यह रूपक अत्यंत मार्मिक है, क्योंकि इसके माध्यम से कवि आधुनिक समाज की संवेदनहीनता और पर्यावरणीय संकट की ओर संकेत करता है। गंगा, जो कभी जीवनदायिनी और पवित्रता की प्रतीक मानी जाती थी, आज प्रदूषण और उपेक्षा से ग्रस्त है। वे लिखते हैं – “आनन्द की जगह विषाद भर आया है / उजरायी है उनकी दाढ़ी धीरे-धीरे / और उधर पका है चेहरा दुखों से गंगा का / जैसे-जैसे उसका वक्ष गँदलाया / -दुखियारी महतारी हमारी है / गंगा”[2]

ज्ञानेंद्रपति की कविता में नदी केवल एक प्राकृतिक जलधारा नहीं, बल्कि जीवन, पवित्रता और प्रकृति की सहनशीलता का सजीव प्रतीक बनकर उभरती है। कवि अत्यंत मार्मिक ढंग से यह दर्शाते हैं कि यह वही नदी है, जो आदिकाल से जंगलों के बीच निर्बाध बहती आई—जिसे बाघों के जुठारने और अन्य प्राकृतिक क्रियाओं ने भी कभी दूषित नहीं किया। हाथियों की विशाल देह, उनकी जलक्रीड़ा, उनका बार-बार उसमें उतरना भी उसकी निर्मलता को कलुषित नहीं कर सका। यहाँ तक कि मनुष्यों द्वारा उसमें स्नान करना, दैनिक क्रियाएँ करना भी उसकी स्वाभाविक शुद्धता को नष्ट नहीं कर पाए। परंतु यही नदी, जो प्रकृति के हर स्पर्श को सहजता से आत्मसात कर लेती थी, आज आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामों से पराजित हो रही है। कवि विशेष रूप से इस विडंबना को रेखांकित करते हैं कि जो नदी इतने शक्तिशाली और व्यापक प्राकृतिक प्रभावों से अडिग रही, वही आज मनुष्य के कृत्रिम साधनों—कारखानों के विषैले अपशिष्ट और यहाँ तक कि एक साधारण-सी

©Copyright 2025 ADRJ. All Rights Reserved

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 5.16/ March - April 2026 / VOL-02 ISSUE-V

साबुन की टिकिया—से हार रही है। साबुन की एक छोटी-सी टिकिया से हारना एक अत्यंत सशक्त प्रतीक है, जो यह बताता है कि आधुनिकता की छोटी-सी दिखने वाली चीज़ें भी पर्यावरण पर कितना गहरा और विनाशकारी प्रभाव डाल रही हैं। वे लिखते हैं –

“आह ! लेकिन
स्वार्थी कारखानों का तेजाबी पेशाब झेलते
बैंगनी हो गयी तुम्हारी शुभ्र त्वचा
हिमालय के होते भी तुम्हारे सिरहाने
हथेली भर की एक साबुन की टिकिया से
हार रहीं तुम युद्ध।”[3]

ज्ञानेंद्रपति की कविताओं में गंगा का चित्रण एक चेतन, स्पंदित और भावनाशील प्राणी के रूप में हुआ है। वे गंगा को मात्र जलधारा के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे जीवनदायिनी माँ, सहृदय सखी और कभी-कभी एक पीड़ित स्त्री के रूप में भी रूपायित करते हैं। यह बहुआयामी प्रस्तुति गंगा को एक सांस्कृतिक प्रतीक से आगे बढ़ाकर एक जीवंत अस्तित्व प्रदान करती है। उनकी कविताओं में गंगा का प्राकृतिक सौंदर्य भी चित्रित है। उनका यह चित्रण न केवल सौंदर्यबोध को समृद्ध करता है, बल्कि पाठकों को प्रकृति के प्रति अधिक सजग और संवेदनशील बनने की प्रेरणा भी देता है। अरविंद त्रिपाठी लिखते हैं – “कवि ने गंगा के सौंदर्य को बदलती ऋतुओं के आलोक में देखने की कोशिश की है। इस सौंदर्य-वर्णन में गंगा का मानवीकरण तो है ही साथ ही गंगा के आसपास के परिवेश को विशुद्ध सौंदर्य के आलोक में देखने की कोशिश भी है।”[4]

गंगा के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कवि केवल उसके प्राकृतिक वैभव तक सीमित नहीं रहते, बल्कि उस सौन्दर्य के आवरण में छिपी विडम्बनाओं को भी गहन संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित करते हैं। रमणीयता के समानांतर कवि एक तीखा सामाजिक व्यंग्य भी प्रस्तुत करता है। वह दर्शाता है कि किस प्रकार आधुनिक पूँजीवादी मानसिकता ने इस पवित्र धारा को भी उपभोग और प्रचार की वस्तु बना दिया है। गंगा आरती के भव्य और आकर्षक आयोजनों में जहाँ एक ओर श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ती है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा के आकांक्षी लोग इसे अपने स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम बना लेते हैं। वे आरती के प्रकाश में, कैमरों की चमक के बीच, स्वयं को ‘गंगापुत्र’ सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते हैं। कवि के शब्दों में यह दृश्य अत्यंत मार्मिक और व्यंग्यपूर्ण बन जाता है—जहाँ एक ओर दीपों की पंक्तियाँ जल में झिलमिलाती हैं, वहीं दूसरी ओर संवेदनहीनता का अंधकार और भी गहरा प्रतीत होता है। फोटो खिंचवाने और अपनी छवि निर्माण की होड़ में लगे ये लोग गंगा की वास्तविक पीड़ा से अनभिज्ञ बने रहते हैं। प्रदूषण, गंदगी और अव्यवस्था से जूझती गंगा उनकी प्राथमिकताओं में कहीं स्थान नहीं पाती। ज्ञानेंद्रपति लिखते हैं - “तमस गहराया है, तमाशे बढ़े हैं / गंगा किनारे हम प्यासे खड़े हैं / लेकिन इस दृश्य को मुग्ध होकर देखने का है काइदा / क्योंकि सबको है इसमें फाइदा, जी हाँ !”[5]

कवि ज्ञानेंद्रपति की दृष्टि केवल गंगा को लेकर चिंतनशील है, बल्कि वे गंगा के अंतराल में निवास करने वाले समस्त जलजीवों के जीवन-संघर्ष को भी समान संवेदना के साथ अनुभव करते हैं। उनकी काव्य-दृष्टि में गंगा मात्र एक पवित्र नदी नहीं, बल्कि एक जीवंत पारिस्थितिकी तंत्र है, जिसमें असंख्य प्राणियों का अस्तित्व जुड़ा हुआ है। आधुनिक युग में, जहाँ मानव अपनी सुविधाओं और उपभोग की अंधी दौड़ में प्रकृति के प्रति संवेदनहीन होता जा रहा है, वहीं प्लास्टिक और विशेषतः पॉलिथिन का बढ़ता उपयोग जल-जीवन के लिए गंभीर संकट बनकर उभरा है। कवि इस विडंबना को गहरी वेदना के साथ अभिव्यक्त करते हैं कि जिस गंगा को लोग आस्था और श्रद्धा का प्रतीक मानते हैं, उसी में वे अपने धार्मिक अवशेष—फूल, मालाएँ और अन्य सामग्री—पॉलिथिन में भरकर प्रवाहित कर देते हैं। यह व्यवहार केवल बाहरी आडंबर का परिचायक है, जिसमें भक्ति तो है, परंतु प्रकृति और जीवन के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव स्पष्ट झलकता है। पॉलिथिन, जो आसानी से नष्ट नहीं होती, जल में लंबे समय तक बनी रहती है और जलजीवों के लिए घातक सिद्ध होती है। मछलियाँ, कछुए और अन्य जीव इन पॉलिथिन को भोजन समझकर निगल लेते हैं, जिससे उनका जीवन संकट में पड़ जाता है और अनेक बार उनकी मृत्यु भी हो जाती है। कवि इस परिस्थिति पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए मानव समाज को चेतावनी देते हैं कि यदि समय रहते हमने अपनी आदतों में परिवर्तन नहीं किया, तो यह पवित्र गंगा और उसके समस्त जीव-जंतु विनाश के कगार पर पहुँच सकते हैं।

“गंगा में वह पालिथिन
चला, जलजीवों की साँस रूँधने
ऐसे ही, साँसत में है उनकी जान
शहरों की नालियों और कारखानों की प्रणालियों की उगल से
करिखाई है गंगा
विषपायी है गंगा
दुखियारी माई है गंगा
उस निर्भार पालिथिन के पड़ते ही

©Copyright 2025 ADRJ. All Rights Reserved

Akshardhara Research Journal
Single Blind Peer-Reviewed & Refereed International Research Journal
E ISSN -3048-8095 / Bimonthly / SJIF Impact- 5.16/ March - April 2026 / VOL-02 ISSUE-V

भारी हो जाता है उसका जी"[6]

गंगा भारतीय संस्कृति, आस्था और जीवनधारा की वह पवित्र प्रतीक—आज अपने ही संतानों की उपेक्षा और प्रदूषण के बोझ तले कराहती हुई प्रतीत होती है। उसकी निर्मल धारा, जो कभी हिमालय की गोद से निकलकर जन-जन के जीवन को पवित्र और समृद्ध करती थी, अब मैल, कचरे और औद्योगिक अपशिष्टों से कलुषित हो चुकी है। उसकी लहरों में जो कभी जीवन का संगीत गूंजता था, आज वहाँ एक मौन पीड़ा और असहायता का स्वर सुनाई देता है। कवि इस दयनीय दशा को देखकर एक भयावह कल्पना करता है—एक ऐसा भविष्य, जो अत्यंत निकट प्रतीत होता है, जहाँ गंगा केवल इतिहास के पन्नों में सिमटकर रह जाएगी। वह दिन दूर नहीं जब गंगा का वास्तविक अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, और उसकी पहचान केवल स्मृतियों, कथाओं और पुराणों तक सीमित रह जाएगी। कवि सोचता है कि आने वाली पीढ़ियाँ जब "गंगा" के विषय में पूछेंगी, तो उन्हें एक जीवंत, प्रवाहमान नदी का परिचय नहीं मिलेगा, बल्कि लोग किसी गंगाबाई महरी की ओर संकेत करके उसे ही गंगा कह देंगे। गंगा का पवित्र नाम एक विडंबना बन जाएगा—उसकी गरिमा और पावनता लुप्त होकर केवल एक शब्द मात्र रह जाएगी, जिसका वास्तविक स्वरूप लोगों की स्मृति से भी विलुप्त हो चुका होगा।

"गंगा की जगह
गंगाविहार कॉलोनी बसी होगी ठस्से से, ठसमठस
गंगा को पूछने पर
कोई बताता होगा, थोड़ी देर सोच कर :
हाँ, है; एक गंगाबाई महरी
दोपहर को इधर आती है, घरों में करने काम
बर्तन-बासन झाड़-पोंछा- बस किसी तरह ही
गंगाबाई महरी-नाटी-सी बूढ़ी-सी
डबडब आँखों वाली- जिसकी आँखों में रेत किरकिराती ही रहती है
इधर रेत उड़ती भी है कुछ ज़ियादा।"[7]

इस कल्पना में एक गहरी वेदना और चेतावनी निहित है। कवि मानो मानव समाज को झकझोरते हुए कह रहा है कि यदि हमने समय रहते अपनी भूलों को नहीं सुधारा, तो वह दिन अवश्य आएगा जब गंगा की पवित्रता ही नहीं, उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। तब न केवल एक नदी का अंत होगा, बल्कि एक सभ्यता, एक संस्कृति और एक आस्था का भी पतन होगा।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रपति गंगा के अस्तित्व को लेकर गहन रूप से व्यथित दिखाई देते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि आधुनिक औद्योगिक विकास और पूँजीवादी मानसिकता ने गंगा के प्राकृतिक स्वरूप को गंभीर संकट में डाल दिया है। कारखानों से निकलने वाले विषैले अपशिष्ट, बढ़ता प्रदूषण और मानवीय उपेक्षा ने गंगा की पवित्रता और जीवनदायिनी शक्ति को क्षीण कर दिया है। इस संदर्भ में कवि केवल गंगा की ही नहीं, बल्कि उसमें निवास करने वाले असंख्य जलजीवों की भी चिंता व्यक्त करते हैं, जो इस प्रदूषण के कारण अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। कवि इस स्थिति के लिए उस मानसिकता को उत्तरदायी ठहराते हैं, जो गंगा को केवल एक साधन के रूप में देखती है—अपने प्रचार, लाभ और स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम। ऐसे लोग गंगा की वास्तविक पीड़ा और उसके महत्व को समझने में असमर्थ हैं। उनके लिए गंगा एक जीवित सत्ता नहीं, बल्कि एक उपभोग की वस्तु मात्र है। इसके विपरीत, कवि के यहाँ गंगा एक चेतनशील प्राणी के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह न केवल जीवनदायिनी है, बल्कि उसकी अपनी संवेदनाएँ, अधिकार और अस्तित्वगत गरिमा भी है। कवि गंगा को मानवीय भावनाओं से युक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं—वह दुखी होती है, आहत होती है, और अपने अपमान को अनुभव करती है। इस प्रकार, गंगा का यह मानवीकरण पाठक के भीतर सहानुभूति और संवेदना का संचार करता है।

संदर्भ –

1. भिनसार, ज्ञानेन्द्रपति, पृ. 65
2. गंगा-बीती, ज्ञानेंद्रपति, पृ. 10-11
3. गंगातट, ज्ञानेंद्रपति, पृ. 28
4. ज्ञानेन्द्रपति,सं.- सिद्धार्थ शंकर राय, पृ. 155
5. गंगा-बीती, ज्ञानेंद्रपति, पृ. 49
6. गंगातट, ज्ञानेंद्रपति, पृ. 148
7. गंगा-बीती, ज्ञानेंद्रपति, पृ. 182

©Copyright 2025 *ADRJ*. All Rights Reserved